साक्षात्कार

प्रतिष्ठित व्यंग्यकार, आलोचक, समीक्षक और सम्पादक सुशील सिद्धार्थ से 'पुष्पगंधा' के लिए सुधा ओम ढींगरा की बातचीत

देहवाद पर अभी लेखिकाएँ कॉन्फिडेंट नहीं हैं: - सुशील सिद्धार्थ

सुशील सिद्धार्थ का कार्य वर्षों से देख रही थी। मेरा समालापक जिज्ञासु मन उनका साक्षात्कार लेना चाहता था। भीतर बहुत से प्रश्न कुलबुलाते थे। एक दो बार फ़ोन भी किया, लेकिन बात बन नहीं पा रही थी। व्यस्तताएँ आड़े आ रही थीं। एक दिन बस तय कर लिया कि अब चाहे व्यस्तताओं में सेंध लगानी पड़े, सुशील जी से बात ज़रूर होगी। इस सदी के कथा साहित्य, व्यंग्य और आलोचना में आपका योगदान अतुलनीय है। सुशील सिद्धार्थ ने सहयोग दिया और मैंने बातचीत के गहरे समन्दर में डुबकी लगा दी। जो माणिक-मोती हाथ आए आपके लिए प्रस्तुत हैं-

सुशील जी, आप आलोचक हैं, समीक्षक हैं, संपादक हैं और एक व्यंग्यकार भी। नारद की चिंता, प्रीति न करियो कोय, मो सम कौन, आपके व्यंग्य संग्रह हैं। आप व्यंग्य को साहित्य में विद्यमान मानते हैं या अलग विधा के रूप में देखते हैं।

सुधा जी इस विषय पर पक्ष प्रतिपक्ष में इतना कुछ कहा सुना जा चुका है कि एक छोटी कोठरी भर जाएगी। व्यंग्य शब्दार्थ की प्रकृति है, रचना का स्वभाव है विन्यास का वैशिष्ट्य है। श्रीलाल शुक्ल ने कई बार विस्तार से इस पर चर्चा की है। यह निश्चित रूप से एक अलग विधा है। परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी आदि लेखकों ने यह स्थापित कर दिया। लेकिन आज इस विधा की हालत पतली है। पत्र-पत्रिकाओं में 350, 500, 700 या 900 शब्दों के व्यंग्य प्रचलन में हैं। ऐसे में क्या कठिन है। केजरीवाल के मफ़लर से लेकर आज़म खां की भैंसें, मोदी की चाय पार्टी से लेकर राहुल के भाषण तक, प्याज से लेकर ब्याज तक- किसी पर इतने शब्द तो घसीटेलाल घसीट ही लेते हैं। चंद चुटीली बातें पिरो लेना कठिन नहीं। बस हो गए स्तंभकार व्यंग्यकार। इस अलग विधा को बहुत सलीके से सँवारने की ज़रूरत है।

वैसे व्यंग्य का प्रयोग सभी विधाओं में होता ही है। यह विधाओं की आवाजाही का समुच है। कहानी में निबंध-निबंध में टिप्पणी, टिप्पणी में कविता, कविता में कहानी, उपन्यास में यह सब कुछ आप देख ही रही हैं। सुधा जी, आज जीवन इतना जटिल है कि सामान्य बातचीत तक भी कई बार व्यंग्य से ओतप्रोत रहता है। तमाम मीडिया पर व्यंग्य हावी है। लक्षणा और व्यंजना से सारी विधाएं लाभ उठा रही हैं, उठाना चाहिए।

अपनी बात करूं तो फिलहाल एक उपन्यास पूरा कर रहा हूँ; जिसमें व्यंग्य खिले, यही कोशिश है।

आज के व्यंग्य लेखन और व्यंग्यकारों के बारे में आपकी क्या राय है।

इसका कुछ जवाब तो पहले वाले जवाब में आ गया। आज के व्यंग्य लेखन में दो तीन नाम छोड़ दें तो मैं बहुत नाउम्मीद, नाखुश और निरीह हूँ। श्रीलाल जी कहते थे कि व्यंग्य लिखने और समझने के लिए सुशिक्षित मस्तिष्क चाहिए। लेखक आज न परंपरा समझ रहे हैं न आधुनिकता। हम ज़्यादातर की बात कर रहे है। लखनऊ से एक युवा उभरा नाम है पंकज प्रसून। बढ़िया लिख रहा है। लखनऊ से ही तीन चार नाम अख़बारों का गढ़ढा भर रहे हैं। वहीं अनूपमणि त्रिपाठी है जो बड़ी समझदारी से लिखता है। मध्यप्रदेश से कुछ नाम हैं। दिल्ली में व्यंग्य ही व्यंग्य है। मगर व्यंग्य लेखन हाशिए पर है। यशवंत व्यास मुझे भाते हैं; बाकी जिसे कुछ नहीं सूझता वह भी व्यंग्य लिख लेता है। सूर्यबाला जैसे एकाध नाम के बाद उस क्षेत्र में स्त्रियाँ न के बराबर हैं। प्रेम जनमेजय 'व्यंग्य यात्रा' में बहुत सारे नाम छापते रहते हैं, मगर आप सब माफ करें, मुझे तत्व नहीं मिलता। लफ्फाजी, लंतरानी, क़िस्सागोई, चुटकी, चुहल वगैरह के बीच विचार न हों तो वाक्यों को निचोड़ते और निपोरते रहिए।

यह लगता है अब व्यंग्य में भी कहानी, कविता आदि की तरह समय बदलने का समय आ गया है।

सुशील जी, आपने व्यंग्य में कहानी, कविता आदि की तरह समय बदलने की बात की है और इस सदी में लिखी गई कहानियाँ राजनैतिक, सामाजिक बेचैनी के दौर और सांस्कृतिक परिवर्तन की उथल-पुथल में रची-बसी कहानियाँ हैं। इस सदी के कथा साहित्य ने हिन्दी साहित्य को क्या दिशा दी है। आप से जानना चाहती हूँ।

अगर व्यापक स्तर पर देखें तो ऐसा कोई भी समय नहीं बीता जब राजनैतिक बेचैनी न रही हो। या सांस्कृतिक उथल-पुथल शून्य हो गईं हो। आजादी की लड़ाई, आपातकाल, मन्दिर-मस्जिद मुद्दा, गुजरात त्रासदी और भी बहुत बेचैनी और उथल-पुथल के संदर्भ बदलते रहे। जिस समय की बात आपने की वह एक विचित्र समय है। हम सब इसमें जी रहे हैं। सुख और दुःख दोनों भोग रहे हैं, लेकिन इसे समझ नहीं पा रहे। या कुछ समझ रहे हैं पर कहने में हिचक रहे हैं। उदारीकरण, मुक्त पूँजी और भूमंडलीकरण आदि जितने भी बड़े-बड़े शब्द हैं उनकी सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिणतियाँ हमारे सामने हैं। कम से कम भारत में तो हालात समझे ही जा सकते हैं। इन स्थितियों में रचे गए कथा साहित्य ने हिन्दी साहित्य को क्या दिशा दी यह प्रश्न है आपका। साहित्य में यह समय 'युवा समय' के नाम से फिलहाल जाना जा रहा है। 1995 के आस पास हिन्दी में पीढ़ी बदलने की आहट मिलने लगी। 2000 से तो स्पष्ट हो गया कि उदय प्रकाश, संजीव, शिवमूर्ति आदि के बारे एक नई पीढ़ी अपने अनुभवों को रचने के लिए तैयार है। इन तेरह वर्षों में हिन्दी कथा साहित्य में बहुत कुछ घटा।

क्या दिशा दी....यह अभी इतना स्पष्ट नहीं है। यह तो चलता ही रहता है कि समय-समय पर पुरानी होती पीढ़ी के आगे युवा पीढ़ी आती है। इससे दिशा को कोई खास रिश्ता नहीं है। कुछ बातें ज़रूर दिखती हैं। एक तो स्त्री और दलित प्रश्नों पर खूब लिखा गया...चर्चा भी हुई। दूसरे अनुभवों का वैविध्य है। इसमें नई बात यह है कि समय को समझने की ज़बरदस्त बेचैनी है। एक बात आपको विचित्र लग सकती है कि समय की कमी का रोना सभी रो रहे हैं, मगर जितनी लम्बी कहानियाँ इन तेरह वर्षों में लिखी गईं उतनी पहले कभी नहीं लिखी गईं। उस लेखन ने हिन्दी साहित्य के एजेण्डा को बदला; अच्छा या बुरा इस बात पर बहस हो सकती है, मगर बदला। केवल हिन्दी नहीं, जितनी भारतीय भाषाओं का साहित्य हम पढ़ पा रहे हैं उनसे लगता है कि चेहरा बदल गया है।

दिशा देने का मामला यूँ भी खासा दिलचस्प है। एक बार नामवर जी से भेंट हुई। बात एक गोष्ठी की हो रही थी। नामवर जी ने बेजार होते हुए कहा कि सुशील युवा विमर्श को छोड़कर कुछ भी रख लो। अब ध्यान मूल सरोकारों से भटक रहा है। लेकिन नामवर जी सहित इतना सब मानते हैं कि हिन्दी पत्रिकाओं, सम्पादकों, प्रकाशकों और पाठकों पर इस समय के 'युवा कथा साहित्य' ने स्थायी छाप छोड़ी है।

भूमंडलीकरण से भौतिकवादी संस्कृति का तेज़ी से विकास हुआ है। जीवन मूल्य, दर्शन, सोच, परिवेश तेज़ी से बदले हैं। अमेरिका में सिक्स्टीज़ में ऐसा हुआ था जिसमें कुछ पुरानी परम्पराएँ, मान्यताएँ टूटी-फूटी थीं और कुछ बच गई थीं फ़िर एक नए समाज का जन्म हुआ था। उस समय के साहित्य पर भी बहुत असर हुआ था। नई सदी की कहानियों में भी परिवर्तन देखने को मिला है। कई महानगरीय कहानियों को पढ़कर ऐसा महसूस होता है; पात्र और परिवेश स्वदेशी है, विषय विदेशी। जॉयश्री राय की एक कहानी पढ़ी थी जिसमें उसने एक क्रिश्चियन परिवार का ज़िक्र किया था और वे थैंक्सगिविंग पर टर्की (पीरू पक्षी) को खाते हैं। यह शुद्ध अमेरिकन त्यौहार है। पहले-पहल जो अंग्रेज़ अमेरिका की धरती पर जहाज़ से उतरे थे उन्हें खाने को कुछ नहीं मिला था तो उन्होंने टर्की (पीरू पक्षी) मार कर खाया था। खाने से पहले बैठकर परिवार और मित्रों के साथ ईश्वर का धन्यवाद किया था। विदेश से लिखी गई इस तरह की कहानी पर तो आलोचक हंगामा करने लगते हैं कि पाठक तालमेल कैसे करेगा? आपसे जानना चाहती हूँ कि ऐसी कहानियों और इस तरह की कहानियों से पाठक कैसे तालमेल करता है या ये आलोचकों के दोहरे मापदण्ड हैं।

देखिये परिवर्तन एक प्रक्रिया है। मोहन जोदड़ो की व्यवस्था कई मायने में आज से बेहतर थी, लेकिन समय तो आगे बढ़ा ही। अगर भौतिकवादी 'संस्कृति' का विकास हुआ है तो इससे पुरानी मान्यताएँ कितनी टूटीं?आप बताइये- शोषित के प्रति हमारा नज़रिया बदला?स्त्री के प्रति क्या वाकई सामाजिक दृष्टिकोण बदला?क्या किसानों, आदिवासियों को इस संस्कृति से लाभ मिला?मैकाले के क्लर्क आज टाई बाँधकर गुलामों की तरह कॉर्पोरेट कल्चर में क्या मरे नहीं जा रहे?श्रमिकों की हितरक्षा के लिए क्या किया जा रहा है?....जैसे अनेक प्रश्न प्रत्यक्ष हैं। आप इसे उपभोगवाद कहिए। हर शब्द में संस्कृति लगाना ज़रूरी नहीं होता। कहने को तो आप बलात्कार और भ्रष्टाचार की संस्कृति भी कह सकते हैं। इस उपभोगवाद और शेष मानवीय विवेक में

संघर्ष चल रहा है। भविष्य का संसार इसी से निकलेगा। यह सही है कि नई सदी में कहानी का कंटेंट थोड़ा सा बदला है। पर इससे क्या फर्क पड़ता है?क्या हम अनुवाद के जरिए विदेशी भाषाओं की कहानियाँ नहीं पढ़ते?विषय देशी हो या संदर्भ बाहर का हो, मूल बात है कि आप कहानी रच पाए कि नहीं। पाठक और आलोचक हर अच्छी रचना से तालमेल कर लेता है। या रचना खुद ही अपनी पैठ बना लेती है। जिस कहानी की आपने चर्चा की वह औसत रचना है। आलोचक के दोहरे मापदंड हो सकते हैं, लेकिन अच्छा कहानीकार उनकी परवाह नहीं करता। मैं तो चाहता हूँ कि हर बढ़िया कहानी मापदंडों से जड़ीभूत संसार को कँपा दे।

यह वह दौर है जिसमें कहानी में बहुत से प्रयोग हुए हैं। कई प्रयोग तो सराहनीय हैं जैसे पंकज सुबीर की कहानी 'अँधेरे का गणित'। उसमें पंकज ने प्राकृतिक बिम्बों से समलैंगिक सम्बन्धों का कुशलता से वर्णन किया है। विषय को शालीनता से समेटा है, कहानी को कहीं भी अश्लील नहीं होने दिया। यह कहानी पंकज की बेहतरीन कहानियों में से एक है। पर कुछ कहानीकारों के प्रयोगों ने भाषा और कहानी दोनों को नुक्सान पहुँचाया है। कहानी में गद्य कविता का आभास होता है। चित्र-चित्रण और यथार्थ के नाम पर दैहिक सम्बन्धों का लम्बा चौड़ा ब्योरा है...आधुनिक कहानी के नाम पर क्या भाषा और विधा दोनों को नुक्सान नहीं पहुँचा?

मंच पर सुशील सिद्धार्थ

प्रयोग न हों तो रचना एक सतह पर आकर समाप्त हो जाए। प्रयोग सहज प्रक्रिया का हिस्सा हैं। मगर प्रयोग रचना की बेहतरी के लिए होना चाहिए। खाने में मसाला आदि का जो भी एक्सपेरीमेंट किया जाता है वह उसे स्वाद्य, पौष्टिक और पाच्य बनाने के लिए होता है। सिर्फ कला और साहित्य ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें 'प्रयोग' का प्रयोग इन्हें नष्ट करने के लिए भी किया जाता रहा है। अभी कुछ रचनाकार जो विवरणों और गूगल ज्ञान से इंटरनेटी इंटेलेक्चुअल बनकर अनुभव रहित सूचना प्रधान कहानियाँ लिख रहे हैं, वे यही कर रहे हैं। कुणाल सिंह ने कुछ अच्छी कहानियों के बाद इसी प्रयोगधर्मिता के तहत 'नष्ट गद्य' लिखा। अनुज और उमाशंकर चौधरी में प्रयोगों की उद्दंड महिमा है। और गद्य कविता का आभास। यह तो पराजय है कथा भाषा की। कुछ असफल कवि भी घटनाप्रधान गद्य लिख कर उसे कहानी मनवाने की ज़िद पकड़े हैं। प्रयोग से कहानी की गुणवत्ता बढ़ाने वालों में हैं-

शशिभूषण द्विवेदी, अल्पना मिश्र, नीलाक्षी सिंह, वंदना राग, रवि बुले, चंदन पांडेय, पंकज सुबीर, विवेक मिश्र, विमल चन्द्र पांडेय। एकाध नाम और भी हो सकते हैं।

आपने नया ज्ञानोदय और लमही पत्रिका के कई कहानी विशेषांकों का संपादन किया है। उन अंकों के बारे में क्या सोचते हैं आप?

'नया ज्ञानोदय' में तो कालिया जी का निर्णय सर्वोपरि था। वहाँ कहानियाँ अच्छी भी छपीं और खराब भी। 'लमही' के दो कहानी केन्द्रित अंक मैंने सम्पादित किए। यहाँ मेरा निर्णय सर्वोपरि था। यहाँ भी अच्छी और खराब दोनों छपीं। पर यहाँ अच्छी कहानियों का प्रतिशत ज़्यादा रहा। यह मेरा आकलन है। कोई इसके विपरीत भी सोच सकता है। एक कहानीकार सलिल सुधाकर हैं, एक किरण सिंह हैं। कभी इनको पढ़िए तो पता चलेगा कि चित्रण, यथार्थ, ब्योरा और भाषा का सटीक प्रयोग कैसे होता है। विवेक मिश्र की कहानी 'हनियाँ' और पंकज सुबीर की 'अँधेरे का गणित' इस लिहाज से श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। बाकी जिन्होंने नुकसान पहुँचाया है कहानी को, उन्हें पाठक क्षमा नहीं करेंगे। एक नाम लेना चाहूँगा; जिसकी ओर आज के कहानीकार को देखना चाहिए। बिना फ़तवेबाज़ी, बिना प्रायोजन और बिना फालतू प्रयोगों के जो शानदार कहानियाँ लिखता चला जा रहा है। मेरा प्रिय कहानीकार संजय कुंदन। 'श्यामलाल का अकेलापन' पढ़िए, जान जाएँगे। बाकी जिन्हें लिखना नहीं आता है उन्हें कोई देर तक पढ़ता भी नहीं है। अल्ला अल्ला ख़ैर सल्ला।

जिन कहानियों का और कहानीकारों की

आपने चर्चा की है, मैंने उन्हें पढ़ा है। आपसे सहमत हूँ। पर कई कहानियाँ बाज़ारवाद से प्रभावित होकर लिखी गई हैं, कई कहानियों में स्वयं बाज़ारवाद घुसा बैठा है और कई कहानियाँ बाज़ारवाद के विरोध में लिखी जा रही हैं। साहित्य में बाज़ारवाद का कितना स्थान होना चाहिए, इसके बारे में आपकी क्या राय है?

बाज़ार जीवन और रचना का हिस्सा है। उसके प्रति उचित दृष्टिकोण से ही दोनों जगह बात बनती है। यह बाज़ार ही है कि आज हिन्दी साहित्य की इतनी पत्रिकाएँ निकल रही हैं। बाज़ारवाद यह है कि लेखक और सम्पादक साहित्येतर कारणों और प्रभावों से लिखना और छापना शुरू कर दें। कुछ विषय भारतीय समाज में दीगर वजहों से बाज़ारवाद की रचना करते रहे हैं। सेक्स इनमें से एक है। इस पर श्रेष्ठ लेखन और संपादन हो सकता है..हुआ है, लेकिन जब इसके लम्पट पक्षों को लेकर कुछ होता है तब बाज़ार का असर दिखता है। 'हंस' स्त्री और दलित विमर्श को मुख्यधारा में लाने वाली पत्रिका है। कई बार इसमें ऐसी कहानियाँ दिख जाती हैं; जिनमें केवल 'बाज़ार' होता है। 'नया ज्ञानोदय' ने 'टीआरपी', 'रेटिंग' और 'रीप्रिंट' के कारनामे दिखाए हैं, लेकिन 'सुपर अंक' निकालकर उसने भी यही साबित किया और लेखक तो कई बार डिमांड पर इतनी जल्दी लिख देते हैं; जैसे पाजामे का नाड़ा सिल रहे हों। वे प्रेम, बेवफाई, बलात्कार, गाँव, स्त्री, दलित, सब पर एक सी त्वरा और निष्ठा से लिखकर फाइल में रख जाते हैं। यह बाज़ारवाद है। पहले भी रहा है...आज बढ़ गया है। बाज़ारवाद के चिन्तनीय पक्षों पर संजय कुंदन, प्रभात रंजन, पंकज सुबीर, विमलचन्द्र पाण्डेय, कैलाश बनवासी, पंकज मित्र आदि की श्रेष्ठ कहानियाँ आप पढ़ सकते हैं।

बाज़ारवाद के तहत नए पाठकों की तलाश करनी चाहिए। पत्रिका की पहुँच दूर-दूर तक हो, इसका रास्ता निकालना चाहिए। आप देखिए, जिस बाज़ार में किसान खड़ा है, उसके भीषण रूपों की जानकारी रखने वाले सत्यनारायण पटेल, शिवमूर्ति, सुभाषचंद्र कुशवाहा और कैलाश बनवासी जैसे कितने हैं। बाज़ार था, है, रहेगा। बस उसे समझना पड़ेगा।

गत कुछ वर्षों में प्रवासी कहानी ने हिन्दी साहित्य में अपनी ज़बरदस्त उपस्थिति दर्ज करवाई है। स्त्री लेखन, युवा लेखन, दलित लेखन के समनांतर प्रवासी लेखन आ गया है। फिर भी आपने उन्हें अपने संपादन के विशेषांकों में स्थान नहीं दिया। क्या आप प्रवासी कहानियों को पढ़ते नहीं या उन्हें देश में लिखी जा रही कहानियों से कमतर समझते हैं।

'प्रवासी कहानी' की आज मुकम्मल पहचान बन चुकी है। एक तरह से यह विश्व हिन्दी का चेहरा है। मैं प्रवासी हिन्दी लेखकों को पढ़ता हूँ। भारत में लिखी जा रही हिन्दी कहानियों की तरह उनमें भी अच्छी या खराब कहानियाँ हैं। मैंने अपने सम्पादन में क्यों नहीं छापा, उसके दो तीन बड़े स्थूल कारण हैं। पहला अप्रैल 2013 के पहले मैं फेसबुक आदि (आदि में संजाल से जुड़ी सक्रियताएँ हैं।) से बेख़बर था। अब फ़ोन पर तेजेन्द्र शर्मा और आपके अलावा किसी से बात नहीं होती। उषा प्रियंवदा और सुषम बेदी से बात जब हुई तब दूसरे मसलों पर। तेजेन्द्र की एक कहानी जो मैं 'लमही' के 'हमारा कहानी समय' में छापना चाहता था, नया ज्ञानोदय में छपी। मैं कुछ कारणों से नहीं छाप पाया था। तेजेन्द्र जी को सारा प्रकरण पता है। उनकी एक बढ़िया कहानी 'दूसरी परम्परा' के प्रवेशांक में छापी है। फिर भी यह मेरी कमी कही जाएगी कि मैंने इन प्रवासी लेखकों से समुचित सम्पर्क नहीं रखा। ये कहानियाँ भारत में लिखी कहानियों से भिन्न मिजाज की हैं और कई बार अपनी गुणवत्ता से चकित करती हैं।

आपने कई साहित्यिक पत्रिकाओं के युवा विशेषांकों का संपादन किया है, पांरपरिक रूप में आपने उम्र से युवा कथाकारों को कहानियों को स्थान दिया है। जबकि युवा विशेषांकों में होना यह चाहिए कि उन कहानियों को स्थान दिया जाना चाहिए जिनमें युवा पीढ़ी की समस्याओं को लिया गया है। जिनका मूल स्वर युवा हो। जो कहानियाँ कथ्य, शिल्प, शैली, अमिधा, लक्षणा और व्यंजनो से स्वयं युवा हों चाहे वह अस्सी वर्ष के लेखक ने लिखी हो। क्योंकि बात यहाँ साहित्य की हो रही है। उम्र की नहीं।

देखिए, कुछ शब्द तो रूढ़ हो जाते हैं। अब युवा कहने पर 35-40 तक की अधिकतम उम्र का बोध होता है। अपवाद हर जगह हैं। किसी 20-22 की कन्या के लिए वह 80 वर्ष का वर तो ठीक नहीं होगा जो मन से युवा हो। अपवादों पर न जाएँ, मगर हिन्दी में एक कहानीकार बताएँ जिसने 60-70 के आस पास 'युवा' शब्द के साथ न्याय किया हो। यह ठीक है कि युवा का व्यापक अर्थ है, मगर जीवन में अर्थ का स्वीकृत रूप लेकर ही चलना पड़ता है। जब 'युवा' विशेषांक' निकाले तब यही बात ध्यान में रही। वैसे भी हिन्दी में 60-65 की उम्र के लेखक को कई बार 'युवा लेखक' कहकर पुकार लेते हैं। यह सही है कि एक 20 वर्ष का लेखक जटायु की तरह निरूपाय महसूस कर सकता है, लेकिन वह युवा कहा जाएगा। यह अनुशासन बना रहने दीजिए, वरना माहौल मजेदार हो जाएगा। आसाराम प्रवृत्ति के लोग डॉक्टरी जाँच के बाद बलात्कार करने की योग्यता का प्रमाणपत्र ले लेंगे और अपनी ध्यान कुटिया में कहानी का शारीरिक शोषण

करने लगेंगे। एक बात ध्यान रखिए। युवा होने से ही किसी को श्रेष्ठ रचनाकार का पद नहीं मिलता। अच्छा लेखन किसी भी उम्र में होता है, हो सकता है।

सुशील जी, क्या आप भी स्त्री लेखन, युवा लेखन, दलित लेखन, प्रवासी लेखन को कोष्टकों में बाँट कर कहानियों का मूल्यांकन करते हैं? साहित्य में खेमों की क्यों ज़रूरत है?

सुधा जी, साहित्य में खेमों की ज़रूरत नहीं होती, यह एक ठीक बात है। स्त्री, युवा, दलित आदि वर्गों में रचना को बाँटकर मूल्यांकन नहीं करना चाहिए, यह भी ठीक है। मैं भी चाहता हूँ कि 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' या 'वसुधैव कुटुम्बकम' या 'सबका मालिक एक' की दिव्य मनोदशा में रहूँ। लेकिन जीवन सुभाषित संग्रह नहीं है- जब समाज में स्त्री और दलित एक सच्चाई है तो कहानी में क्यों नहीं होगी। अतिवादों को छोड़ दें, मगर स्त्री और दलित रचनाकारों ने अपने वर्ग की तकलीफों को ज़्यादा प्रभावों के साथ उपस्थित किया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहन दास नैमिषराय, जयप्रकाश कर्दम, अजय नावरिया, अनीता भारती आदि के लेखन को परखने के प्रतिमान अलग होंगे। यह मैं मानता हूँ। इसी तरह अनामिका, वर्तिका नन्दा, किरण सिंह, अल्पना मिश्र, वंदना राग, उर्मिला शिरीष, नीलेश रघुवंशी के लिए भी आपको अपना न्याय शास्त्र संशोधित करना होगा।

अगर किसानों और आदिवासियों के बीच से कवि लेखकों की संख्या बढ़े तो हमें उनको भी कुछ अलग तरीके से पढ़ना होगा। आप बताएँ कि निर्मल और शिवमूर्ति को बिना दो वर्गों में रखे मूल्यांकन कैसे होगा। अमेरिका और ईराक का मूल्यांकन कैसे होगा। नक्सल सक्रियता से प्रेरित रचनाओं और लिव इन संबंधों से उत्पन्न रचनाओं का निर्णय एक ही तराजू से कर देंगे। 'सब सुखी हों' यह प्रार्थना है। हमारा समय शोक गीत है और विलाप का समय है। आपने आदर्श की बात की है, जो मुझे भी अच्छी लगती है। पर कठोर सच्चाई यही है।

नई सदी के किन कथाकारों में अथाह संभावनाएँ हैं। क्या आप इस सदी के कथा साहित्य की दशा से संतुष्ट हैं। इसकी कौन सी प्रवृत्तियाँ आपको भविष्य के लिए संतुष्ट करती हैं।

नई सदी के जिन लेखकों को मैं पढ़ना चाहता हूँ.... पढ़ता हूँ वे हैं- अलका सरावगी, अल्पना मिश्र, वंदना राग, नीलाक्षी सिंह, आकांक्षा पारे, कविता, पंकज मिश्र, संजय कुंदन, शशि भूषण द्विवेदी, चंदन पाण्डेय, रवि बुले, कैलाश बनवासी, अजय नावरिया, विवेक मिश्र, प्रेम भारद्वाज, किरन सिंह, विमलचंद्र पाण्डेय, पंकज सुबीर, तेजेन्द्र शर्मा। कुछ नाम सहसा ध्यान नहीं आ रहे। कुछ आ रहे हैं, लेकिन उनके लेखन को मैं पसंद नहीं करता। वे भी मुझे नापसंद करते होंगे और हाँ उदय प्रकाश, संजीव, महेश कटारे, सत्यनारायण पटेल, विनोद कुमार शुक्ल, राजेश जोशी को मैं किसी भी सदी में पढ़ना चाहूँगा। जैसे श्री लाल शुक्ल, हरिशंकर परसाई, प्रेमचंद, मुक्तिबोध को हर जीवन में पढ़ना चाहूँगा।

अगर नई सदी पर ही केन्द्रित रहूँ तो जो युवा नाम लिए हैं उनमें संभावनाओं की सिद्धियाँ अब स्पष्ट हैं। कथा और शिल्प का संतुलन मुझे प्रभावित करता है। प्रवृत्ति एक ही है समय, समाज और साहित्य की बहुस्तरीयता को समझने की उत्सुकता। मैं सन्तुष्ट भी हूँ और आशान्वित भी।

भारत से इतर देशों में लिखे जा रहे साहित्य ने नई सदी में अपनी एक अलग पहचान बनाई है। हालांकि कुछेक लेखक पहले से लिख रहे थे पर कथा साहित्य में प्रवासी लेखकों की एक जमात इसी सदी में सामने आई है। यहाँ के कथा-साहित्य के बारे में आपकी राय जानना चाहती हूँ?

पहचान पहले भी थी। उषा प्रियंवदा और अभिमन्यु अनत जैसे रचनाकारों ने हिन्दी को वैश्विक मान दिया है। हाँ, यह बात सही है कि नई सदी में भारतेतर देशों की यह सक्रियता बढ़ी है और भारत में इसका प्रभाव पड़ा। कई तरह से। आप

शेष पृष्ठ 53

(पृष्ठ 15 का शेष)
द्वारा सम्पादित 'हिन्दी चेतना' पत्रिका अब मुख्य पत्रिकाओं में मानी जाती है। विशेषतः इस अर्थ में प्रवासी लेखन हिन्दी लेखन की समग्रता में सहज रूप से शामिल होता है। इस पत्रिका के कई विशेषांक चर्चित रहे हैं। मुझे बहुत सारी जानकारियाँ इससे मिल जाती हैं।

सुषम बेदी, अर्चना पेन्यूली, अचला शर्मा, सुधा ओम ढींगरा, नीना पॉल, सुमन कुमार घई, अनिल प्रभा कुमार, सुदर्शन प्रियदर्शिनी, दिव्या माथुर, कृष्ण बिहारी, ज़किया जुबेरी, तेजेन्द्र शर्मा को कमोबेश पढ़ा है। अपनी सीमित पढ़त के आधार पर कह सकता हूँ कि यह कथा साहित्य बहुत सारी उम्मीदें जगाता है। नई कथावस्तु और संरचना की उम्मीद। इनमें से कुछ को तो मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ कि वे अपनी रचना के लिए कितना एकाग्र रहते हैं। उषा प्रियंवदा का नया उपन्यास 'नदी' अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। स्थितियों से जूझती स्त्री का बेहद मार्मिक अंकन है। ज़किया ज़ुबैरी ने अपनी कहानियों के लिए राजेन्द्र यादव और नासिरा शर्मा से प्रशंसा प्राप्त की है। सुषम बेदी और अर्चना पेन्यूली तो बहुत प्रतिष्ठित नाम हैं। ये लगातार लिख रही हैं और मानवीय नियति से जुड़े सवालों से जूझ रही हैं। सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'बेघर सच' दूसरी परम्परा पत्रिका के अंक 2 में छपी है। खूब चर्चित हो रही है। मैंने पाठकों से कुछ कहानियों के नाम फेसबुक पर मांगे, जिन पर आलेख लिखवाए जाएँ। कई मित्रों ने 'आग में गर्मी कम क्यों है' का नाम सुझाया। आप समझ सकती हैं कि भारत में ये रचनाकार जाने पहचाने जाते हैं। कृष्ण बिहारी जो स्त्रियों से जुड़े प्रश्नों के लिए बहुत चर्चित रहे हालाँकि उन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रभावी कहानियाँ लिखी हैं।

अब पाठक, सम्पादक और आलोचक के लिए 'इधर' या 'उधर' सवाल महत्वपूर्ण नहीं है। रचना बेहतर होगी तो पढ़ी जाएगी। आप ही बताएं क्या भारत की पत्र पत्रिकाओं में जितनी कहानियाँ छपती हैं, सबकी सब श्रेष्ठ होती हैं या सभी पढ़ी जाती हैं। बल्कि यह कहना ज़्यादा मुनासिब होगा कि भारतेतर देशों से आने वाले कथा साहित्य पर पाठकों का ध्यान जल्दी जाता है। अब आलोचकों के विवेचन में उन रचनाओं को जगह मिल रही है। प्रवासी साहित्य नाम से पाठयक्रम में चीज़ें शामिल हो रही हैं।

कथा साहित्य के इस हिस्से के कुछ उल्लेखनीय पक्ष हैं। ये रचनाएँ पाठक, संपादक और आलोचक के आतंक के बिना लिखी जा रही हैं। इनमें प्रायः सहज अभिव्यक्तियाँ हैं। इन पर किसी विमर्श को ढोने या किसी सरोकार से लैस होने या किसी लेखक संघ को जवाब देने की ज़िम्मेदारी नहीं है। भारत में बहुत बार लेखक वह लिख ही नहीं पाता जो महसूस करता है। इस कमी को वह भाषा के छल या लिटरेरी पॉलिटिक्स के बल से पूरा करता है। प्रवासी रचनाओं के साथ ये स्थितियाँ नहीं है यही कारण है कि सहजता के साथ तेजेन्द्र शर्मा 'कब्र का मुनाफा' और 'सीली आँखों में भविष्य' जैसी दिल को छूने वाली कहानियाँ लिख पाते हैं। मैं तो प्रवासी कथा साहित्य को प्रवासी हटाकर ही पढ़ता हूँ।

अब जरूरत यह है कि 'हिन्दी सेवा' या 'भाषा का ऋण चुकाने' या विछोह के मोह से उबरकर पूरी तैयारी के साथ लिखा जाए। लोकल और ग्लोबल दोनों दृष्टियों को साधकर। प्रवासी लेखकों के बीच से आलोचक भी निकलने चाहिए। अभी स्थिति ठीक नहीं है। वृत्तांत और विचार का गठजोड़ ही साहित्य को आगे ले जाएगा। हिन्दी पत्रिकाओं को संकल्प सहित प्रत्येक अंक में प्रवासी कथा साहित्य प्रकाशित करना होगा। मैं 'दूसरी परम्परा' में इसका पालन कर रहा हूँ।

आपने 'दूसरी परम्परा' पत्रिका का ज़िक्र किया। पत्रिका निकालना चुनौतियों को दावत देना है। जिज्ञासा है जानने की, किन बातों ने पत्रिका निकालने के लिए प्रेरित किया?

आपकी जिज्ञासा का जवाब दो तरह से दूंगा। पहला हिस्सा निजी है। अपने संघर्षों की दास्तान नहीं खोलना चाहता। मगर अब नौकरी कब तक करूंगा। 'डासत ही गई बीति निसा सब कबहुं न नाथ नींद भरि सोयो।' चुनौतियां तो हैं मगर सामना करना पड़ेगा। आलोचक और व्यंग्यकार होने के नाते रचनाओं पर फैसला लेना कुछ सरल है। वैसे मेरे साथ कथाकार-फोटोग्राफर-लोकमर्मज्ञ-समाजसेवी-संपादक स्वाति तिवारी हैं। मेरे साथ युवा कथाकार विवेक मिश्र हैं। स्वाति और विवेक मेरा हौसला बढ़ाते हैं। 'दूसरी परम्परा' अब एक सच्चाई है। सुधा जी ज्यादा तो नहीं मगर अब इसके लिए जान लड़ा देनी है। अपना जीवन अपनी तरह जी सकूँ इसका एक रास्ता है यह परम्परा।

दूसरा हिस्सा यह है कि जब प्रमुख पत्रिकाओं में किसी चीज़ की कमी दिखती है तब आपका मन उत्सुक होता है। मन चाहता है कि यह कमी हम पूरी करें। देखिए कोई एक दो तीन पत्रिकाएँ मिलकर व्यापक हिन्दी समुदाय की ज़रूरत पूरी नहीं कर सकती। 'दूसरी परम्परा' कुछ खास चीज़ें करना चाहती है। कितना कर पाती यह भविष्य ही बताएगा।

सुशील जी मेरा समालापक और जिज्ञासु मन अभी शांत नहीं हुआ, क्या और प्रश्न पूछ सकती हूँ?

जी अवश्य।

भारत में स्त्री लेखन तो लगातार हो रहा है किन्तु स्त्री मुक्ति आंदोलन जैसा कोई स्वतंत्र इतिहास

हमारे पास उपलब्ध नहीं है। ऐसा क्यों? इसके क्या कारण हैं?

स्त्री मुक्ति आंदोलन जैसा कुछ नहीं है, ऐसा एकदम नहीं कहा जा सकता। सुमन राजे की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास। राजे की ही एक अन्य पुस्तक ज्ञानपीठ से ही है। अनामिका, गीताश्री, कविता, मनीषा कुलश्रेष्ठ आदि से स्फुट रूप से ज़रूरी काम किया है। सामयिक प्रकाशन तो 'स्त्री विमर्श' पर बहुविध किताबें छाप ही रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में आए दिन ऐसी सामग्री प्रकाशित होती है। डॉ. पुष्पपाल ने भूमंडलीकरण के बाद के कथा साहित्य पर जो आलोचनात्मक किताब लिखी है, उसमें स्त्री मुक्ति आंदोलन के सूत्र हैं। प्रभा खेतान और मैत्रेयी पुष्पा की कई किताबें इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं। हाँ स्वतंत्र इतिहास करके तो शायद अभी नहीं है। हो सकता है कोई लिख भी रहा हो। 'स्त्री लेखन' भी दो तरह का है। पहला जो स्त्रियाँ स्वयं लिख रही हैं। दूसरा जो पुरूषों द्वारा स्त्री प्रश्नों पर लिखा जा रहा है। दूसरे वर्ग में आप राजेन्द्र यादव के योगदान को भुला नहीं सकते।

विश्वविद्यालयों में तमाम पक्षों पर शोध चल रहा होगा ऐसा लगता है। जल्द ही आप 'स्त्री मुक्ति आंदोलन' का इतिहास देख सकेंगी।

आजकल स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में यह भी कहा जाने लगा है कि यह 'देहवादी विमर्श' बनकर रह गया है। और यह भी कि स्त्री लेखिकाएँ मात्र यौन मुक्ति की ही बात कर रहीं हैं। आप क्या सोचते हैं?

भारतीय समाज ही नहीं, किसी न किसी रूप में पूरी दुनिया में सेक्स एक अनुपेक्षणीय उपस्थिति है। दिलचस्प है कि तरूण तेजपाल, आसाराम, नारायण साईं आदि अपने क्षेत्र की किसी विवादास्पद बात के चलते जेल नहीं गए।....एक अदद सेक्स। फेसबुक और टिवटर पर ऐसी बातें आने या उजागर होने पर लोग जान दे रहे हैं। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति नीले वस्त्र पर पड़े सफेद धब्बों के लिए चर्चित रहे। विश्व के कई राष्ट्राध्यक्ष जिस्म के तिलिस्म में भटक चुके हैं। सच यह है कि सदियों से समाज में स्त्री देह को भांति-भांति की प्रयोगशाला का रूप दिया गया है। सभ्यता के शुरूआती समय को छोड़ दीजिए तो सामंतवाद ने स्त्री देह को किसी लायक नहीं छोड़ा। यौनेच्छा पूर्ति का साधन भर। ये तमाम शब्द आखिर सभ्यता संस्कृति के युगों से ही छन कर आए हैं- धर्मपत्नी (यानी अधर्मपत्नी की गुंजाइश है), रखैल, दासी, कुलटा, छिनाल, वेश्या, पुंश्चली, विषकन्या, नगरवधू, दस्यु सुंदरी, आइटम गर्ल आदि आदि। साहित्य में वीरगाथाकाल स्त्री देह पर कब्जा करने की 'वीरभोग्या' कामना से भरा है। भक्तिकाल स्त्री देह की निन्दा से नीला है। यहाँ तक कि संत कबीर का 'अंग' पढ़िए। नारी के बारे में राय मिल जाएगी। शंकराचार्य ने नरक का द्वार कहा। तुलसी ने ताड़ना की ज़रूरत बताई। रीतिकाल तो भूखे शेर की तरह टूट पड़ा। इतने नायिका भेद और काव्यशास्त्रीय छेद की स्त्री देह में चाहे जहाँ से प्रवेश कर लो। यानी अनन्त कथा है। तमाम कारणों से समाज में स्त्री देह जैसे एक 'लोकतांत्रिक कुण्ठा' बन गई है। बलात्कार, खाप पंचायत के निर्णय, घरेलू हिंसा, कार्यस्थल की छेड़छाड़, रास्ते की घटनाएं-जाने कितने जंजाल। आप छिटपुट 'लिव इन' की घटनाओं से यह न समझें कि जीवन में स्त्री की 'हाँ' को बराबर मौका मिल रहा है। स्वाति तिवारी ने ऐसी कहानियों की सम्पादित किया है। खुद उनकी 'निष्प्रयोजन' कहानी इसका मर्म घोलती है।

अब तमाम सामाजिक सांस्कृतिक आर्थिक साजिशों के साथ बाज़ारवाद के परिणामों के बीच जब लेखिकाएँ लिखेंगी; तब उनके सामने कौन से प्रश्न होंगे, इसका अनुमान कठिन नहीं है। महादेवी की पुस्तक है 'श्रृंखला की कड़ियाँ'। जाने कितनी श्रृंखलाएँ और कड़ियाँ हैं। आज तक स्त्री को अपनी देह पर ही अधिकार नहीं है। तो अगर लेखिकाएँ यौन मुक्तता की बात लिखती हैं, तब हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। सच्चे अर्थ में सभी स्त्री प्रश्नों के बीच पूरी सकारात्मकता के साथ 'देहवादी विमर्श' हुआ ही नहीं। 'तहलका' के एक अंक में किन्हीं शालिनी माथुर ने हल्ला बोल दिया, ऐसी कुछ कहानियाँ चुनकर। जयश्री राय को छोड़कर किसी लेखिका की हिम्मत नहीं हो रही कि अपनी ही रचना के पक्ष में खड़ी हो सकें। उनकी दिक्कत मैं समझ सकता हूँ। किसी संपादक के उकसाने या अपने सच को व्यक्त करने या 'बोल्ड' दिखने की कोशिश करने के बाद; जो लिखा उस पर बात करने की हिम्मत या समझ नहीं। जैसे अवैध सन्तान को कोई नाली, कूड़ाघर में फेंक दे कि जिए या मरे। देहवाद पर अभी लेखिकाएँ कॉन्फिडेंट नहीं हैं। प्रभा खेतान, अनामिका बनना सबके बस की बात नहीं। बात कहने के लिए कृष्ण सोबती की क्षमता कहाँ से आएगी।

इसलिए ठीक से यौन मुक्ति के सवाल पर भी नहीं लिखा जा रहा। असंतुलन दिखता है। कोई पुरूष लिखे तो 'हम स्त्रियों' के बारे में तुम क्या जानो जैसे वाक्य बरसने लगते हैं। एक बार राजेन्द्र यादव ने होना सोना...' में कुछ ज़रूरी बातें कथन की वक्रता के साथ कही थीं। ज़्यादातर स्त्रियों और पुरूषों ने उनकी बातें नहीं समझीं और टूट पड़े। अन्य स्त्रियों और अन्य पुरूषों का मध्यवर्गीय सत्संग करने वाले स्त्री-पुरूष खासतौर पर नैतिकता की नदी में सूखे गोबर की तरह उतराते देखे गए।

इन हालात में जो लिखा जा रहा है वही गनीमत है। आप यादि किरन सिंह, कविता, वंदना राग, स्वाति तिवारी, अल्पना मिश्र, ज्योति चावला, आदि को पढ़े तो आपकी राय

बदलेगी। जैसे मृदुला गर्ग जैसी कथाकार को कोई 'यौन मुक्ति' के सवालों में सीमित नहीं कर सकता। स्वयं आपने, अर्चना पेन्यूली और ज़किया ज़ुबैरी ने लेखन का दायरा बढ़ाया है।

सुशील जी, अश्लीलता क्या है? आप इसे कैसे प्रभाषित करेंगे?

व्यक्तिगत और सामाजिक विकास के क्रम में बहुत सी चीज़ें आदर्शनीय अकरणीय मान ली जाती हैं। इस संदर्भ में क्षेत्रीय महत्त्व भी है। सभ्यता और संस्कृति के अपने प्रतिमान हैं। वैसे कुल मिलाकर स्त्री-पुरूष देह का विशेष मुद्राओं में प्रदर्शन, उनके रिश्तों पर 'अमर्यादित' मान ली गई भाषा में कथन जैसी चीज़ें अश्लील मानी जाती हैं। मैं इसे किसी लम्बे लेख में ही बता पाऊँगा। वरना बात बहुत उपदेशात्मक हो जाएगी।

लेख का इंतज़ार रहेगा। अच्छा यह बताएँ अश्लील साहित्य होता है या साहित्य में अश्लीलता होती हैं?

अगर आप साहित्य में ठीक से खोज करें तो साहित्य कभी अश्लील नहीं होता। संदर्भों से कटा और सरोकारों से हीन लेखन ही बकवास होता है, उसे अश्लील भी कह सकते हैं। यह शुद्ध रूप से लेखक की नीयत पर निर्भर करता है।

इसी विषय को लेकर एक और प्रश्न--क्या स्त्री-पुरुष सम्बन्ध अश्लील हैं? उनका चित्रण अश्लील है। रचना में अश्लीलता का स्तर?

स्त्री-पुरूष संबंध दुनिया में सबसे सुंदर होते हैं। यह रचनाकार विशेष पर है कि इनका चित्रण कैसे करना है। संदर्भ और सरोकार वाली बात यहाँ मुख्य है संस्कृत या प्राकृत में इनका कितना अच्छा चित्रण हुआ है। मुझे इस अश्लील शब्द से बड़ी बेचैनी होती है। कई बार यह सामंतवाद की गली से निकला ढिंढोरा लगता है। और मैं इसे स्त्री पुरूष रिश्तों वा उनके चित्रण तक ही सीमित नहीं रखता। एक उद्दंड नेता, बकवासी धर्म गुरू, पत्नी को पीटता पति, माता-पिता को ठुकराते बच्चे मुझे सर्वाधिक अश्लील लगते हैं। रचना में स्त्री-पुरूष रिश्तों का चित्रण एक कला है। जिन्हें कला नहीं आती वे अश्लील हो जाते हैं।

सुशील जी, मार्गदर्शन के लिए नए लेखकों को कुछ सुझाव....

नए लेखक सावधान हैं। वे जानते हैं उन्हें क्या पाना क्या खोना है। अगर तात्कालिकता में न पड़ें, बहुत अधीर न हों; जितनी किताबें पढ़ सकें, पढ़ें, समाज को जानें तो कोई कारण नहीं कि लक्ष्य तक न पहुँचें। वैसे उन्हें मार्गदर्शन की ज़्यादा ज़रूरत नहीं है।

इससे पहले कि हम बातचीत समाप्त करें, अंतिम प्रश्न-भविष्य में आपकी क्या योजनाएँ हैं?

'दूसरी परम्परा' पत्रिका आप सबके सहयोग से बढ़िया निकालना चाहता हूँ। कुछ वर्ष बाद मासिक कर सकूं यह बहुत बड़ा सपना है। शायद पूरा होने में दिक्कत आए।

काफी रचनाएँ अधूरी पड़ी हैं, उनमें से जिनमें संभावना है उन्हें पूरी करना चाहूँगा। जीवन रहते कुछ जीवन सार्थक करना चाहता हूँ बाकी भविष्य का क्या है समय जो सामने लाएगा उसे पढ़ेंगे। अभी जो काम हाथ में हैं वे हैं- साहित्य अकादमी के लिए श्रीलाल शुक्ल पर मोनोग्राफ, एनबीटी के लिए श्रीलाल शुक्ल की प्रतिनिधि व्यंग्य रचनाओं का सम्पादन, सामयिक प्रकाशन के लिए विश्वनाथ प्रसाद तिवारी संचयन का सम्पादन, राजकमल के लिए स्त्री अस्मिता पर एक कहानी श्रृंखला का सम्पादन, एक उपन्यास दुबारा लिख रहा हूँ। प्रवासी कहानीकारों पर एक आलोचना पुस्तक। फिलहाल, इतना हो जाए तब देखें क्या और आगे है। हाँ, सामायिक से एक व्यंग्य संग्रह और ज्योति पर्व से एक पुस्तक इसी वर्ष आएगी।

सुशील जी के साथ फ़ोन पर कई विषयों पर बात हुई। वे बड़ी सौम्यता और शिष्टता से बात करते हैं। उनके इसी व्यवहार ने यह बातचीत पूरी करवाई। ●

हिन्दी चेतना

हिन्दी प्रचारिणी सभा (कैनेडा) की

अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रमुख सम्पादक :- श्याम त्रिपाठी

सम्पादक :- सुधा ओम ढींगरा

6, Larksmere Court,
Markham, Ontario - L3R3RI
e-mail : hindichetna@yahoo.ca